डा० भवानीशंकर

ओ३म् ॥

वाजसनेयोपनिषद्भाष्यम् ॥

पुस्तकालय

ईशावास्योपनाममूलकम् ।

श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य्य

मद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां

शिष्येण भीमसेनशर्मणा लोकोपकाराय संस्कृतभाषयाऽऽर्य्यभाषया च व्याख्यातम् ॥

VAJASANEYOPNISHAT.

WITH

COMMENTARY

OF

BHIMSEN SHARMA

सरस्वतीयन्त्रालय प्रयाग में

मुद्रित हुई ॥

"Saraswati press, Allahabad."

Registered under Sections 18 and 19 of Act XXV of 1867.

1892.

[All rights reserved]

Second Edition 1000 copies.

Price 3½ annas.

ओ३म
गुरु विरजानन्द दण्डी
संदर्भ पुस्तकालय
दयानंद महिला महाविद्यालय
कुरुक्षेत्र
वर्गीकरण नम्बर ... २३२८
पु. परिग्रहण क्रमांक .....

गुरु विरजानन्द दण्डी
राष्ट्रीय पुस्तकालय
2328

ओ३म् ॥

अथ वाजसनेयोपनिषत्प्रस्तावः ॥

ओ३म्—सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यङ्करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मन्त्रार्थभाषा—हे परमेश्वर सर्वशक्तिमन् ! आप की कृपा से हम लोग परस्पर निष्कपट शुद्धान्तःकरण से धर्मपूर्वक मिल के प्रीति बढ़ावें एक दूसरे की सहायता से धर्मयुक्त कार्य्यों का पालन करें तथा विद्या और धर्मसम्बन्धी बल और शारीरिक बल को परस्पर बढ़ाते रहें। और हम लोगों के तीन प्रकार के (आध्यात्मिक,आधिभौतिक,आधिदैविक) दुःखों की शान्ति हो। जिस से हम लोग सब दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त होवें ॥

प्र०—तावत् प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तो न प्रवर्त्तन्त इत्यतः प्रयोजनमभिधेयम् । तथाचोक्तम् । "सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यस्सम्बन्धः सप्रयोजनः" सिद्धो ज्ञातोर्थः प्रयोजनमस्य तत् । प्रयोजनञ्च चैतन्यविशिष्टमात्रस्य सुखसुखहेत्वोरभीप्सा दुःखदुःखहेत्वोश्च

जिहासैव प्रतिभाति। ते चोक्ते अभीप्साजिहासे यथा यथम्पूर्णप्रकारेण लोकेऽनवगते प्रत्युतविपरीते दृश्ये यथाऽयञ्जनः सुखाय कर्माणि कुर्वन्नपि सुखन्न लभ तेऽपितु दुःखमपीति तत्र को हेतुरन्योह्यविद्यायाः तन्नाशिका च विद्यैव सा च द्विधाऽपरा परा च तथा चोक्तं मुण्डकोपनिषदि—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इत्यादि—अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते इति ॥

सैव परा ब्रह्मसम्बन्धित्वाद्ब्रह्मविद्या शमदमतितिक्षा-ज्ञान्युपरतिध्यानसमाधिरूपा ब्रह्मज्ञानेन संनिकृष्टा। एतस्याश्चाव्यवहितं साधनमुपनिषदोऽत उपनिषच्छब्दवाच्याऽपि पूर्वापेक्षया पराऽस्ति। अत्र परापरशब्दौ प्रधानाप्रधानार्थकौ नैव गृह्येते किन्तु सुखाऽवाप्तिदुःखहान्योः पूर्वं साधनमृग्वेदादिकमपरानाम्ना प्रसिद्धम्। द्वितीयं च परानाम्नोक्तम्। यतः विशरणगत्यवसादनार्थस्य सद्धातोरुप निपूर्वस्य क्विबन्तस्य रूपमुपनिषदिति तदर्थस्तु ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णास्सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां विद्यामुप सद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषाम विद्यादेस्संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्विनाशनादि

त्यनेनार्थयोगेन ब्रह्मविद्योपनिषदित्युच्यते—तथाचोक्तम्—निचाय्य तम्मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति। अथ च यां विद्यामाश्रित्य मुमुक्षवो ब्रह्मगच्छन्तीति ब्रह्मप्राप्तिसाधनैकहेतुयोगाच्च ब्रह्मविद्योपनिषत् तथा च या विद्या क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्म्मिता दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानप्रवर्त्तिका अनादिकालसञ्चिता वासना अवसादयति शिथिलीकरोतीति दुःखबन्धनशैथिल्यापादनेनार्थत्रितयेनापि ब्रह्मविद्योपनिषदिति स्थिम्। उक्तयोश्च दुःखजिहासासुखाभीप्सयोर्ब्रह्मविद्यान्तरेण सिद्धिर्नैव सम्भवति सर्वदुःखविमुक्तब्रह्मणो ज्ञानादेव तयोः सम्भवात्। तरति शोकमात्मविदित्यादिश्रुतेः। ब्रह्म च वेदैकवेद्यम्। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादिश्रुतेः। तत्र कर्मकाण्डे परम्परातो ब्रह्म प्रतिपाद्यते। उपासनाज्ञानकाण्डयोश्च मुख्यया साक्षादेव ब्रह्म प्रतिपादितम्। तन्त्वौपनिषदं पुरुषं व्याख्यास्याम इति प्रामाण्यात् तत्र चोपनिच्छब्दवाच्यं वेदसिद्धान्तानुकूलं वेदान्तशास्त्रमखिलदुःखमोचकम्। तथाचोक्तम्—समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः क्षीणसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ आत्मनि चेतसो निवेशनं च वेदान्तशास्त्रोक्तविधिनैव सम्भवति । अतो वेदान्तशास्त्रं जिज्ञासवे सर्वोपरिस्थम् ॥

तत्र चोपनिषच्छब्दप्रसिद्धा द्वादश निबन्धास्तेष्वाद्या वाजसनेयोपनिषत् । यामीशावास्यमित्याधुनिका ब्रुवन्ति । इयं च वाजसनेय्युपनिषद् मूलयजुर्वेद वाजसनेयी संहितान्तर्गता । तत्र यजुर्वेदे चत्वारिंशदध्यायाः । तेष्वेकोनचत्वारिंशदध्यायैस्तु प्राधान्येन कर्मकाण्डमुक्तं तद्यथाविहितकर्मानुष्ठानेन शुद्धान्तःकरणाय साधितशमदमादिसाधनाय भुक्तभोगायापाकृतार्णत्रयाय दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाय कर्मफलमनाश्रित्य निस्पृहं कार्य्यवैदिककर्मकर्त्रे ब्रह्मजिज्ञासवे मुमुक्षवे चत्वारिंशत्तमेनैकेन वाजसनेयोपनिषद्रूपेणाध्यायेनेशावास्यमित्यादिसप्तदशमन्त्रात्मकेन ब्रह्मविषयकं ज्ञानकाण्डमुच्यते ॥

भूमिका भाषा---जब किसी कार्य्य का प्रारम्भ किया जाता है तब उस का कुछ प्रयोजन अवश्य होता है यहां भी उपनिषदों के भाष्य का प्रारम्भ है इस लिये इस का प्रयोजन अवश्य कहना चाहिये क्योंकि पण्डित लोग बिना प्रयोजन (जिस

के करने में विशेष फल न हो) किसी कार्य्य के करने को प्रवृत्त नहीं होते इस लिये प्रयोजन कहना चाहिये। किसी विद्वान् का श्लोक है कि (सिद्धार्थम्०) जिस का प्रयोजन और सम्बन्ध जान लिया हो उस ग्रन्थ के सुनने और पढ़ने के लिये श्रोता लोग प्रवृत्त होते हैं इस लिये ग्रन्थ कर्त्ता को बहुत आवश्यक है कि किसी पर भाष्य बनावे वा कोई ग्रन्थ रचे तो उस शास्त्र के आदि में प्रयोजन सहित उस ग्रन्थ के पढ़ने सुनने तथा तदनुसार आचरण से होने वाले फल सम्बन्ध को अवश्य कहै ॥

और संसार में प्राणिमात्र का मुख्य प्रयोजन यही है कि सुख और सुख के साधनों को प्राप्त होने की इच्छा और दुःख तथा दुःख के साधनों को छोड़ने की इच्छा सिद्ध हो। यदि अन्य भी कुछ प्रयोजन हो तो वह इसी में से निकलेगा। और सुखप्राप्ति वा दुःखहानिरूप प्रयोजन संसार में पूर्ण प्रकार से नहीं दीख पड़ते किन्तु विपरीत तो दीखते हैं। अर्थात् यह नियम नहीं है कि जो पुरुष अपने विचारानुसार वा देखे सुने के अनुसार सुख प्राप्ति का उपाय करे उस को सुख ही प्राप्त हो और दुःख त्याग का यत्न करने वाला दुःख से बच ही जावे किन्तु सुखप्राप्ति का यत्न करने वाला कहीं दुःख को भी प्राप्त होता और दुःख छोड़ने वाले को भी दुःख अकस्मात् प्राप्त हो जाते हैं। ध्यान दे कर देखने से यही ज्ञात होता है कि इस का कारण अविद्या ही है और अविद्या का नाश विद्या से ही हो सकता है। वह विद्या दो प्रकार की होती है एक अपरा और दूसरी परा इस में ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद आदि अपराविद्या और पराविद्या वह है कि जिससे अविनाशी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। इसी शम, दम, तितिक्षा, शान्ति, समाधिरूप परा को ज्ञान के समीपी होने से ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसी के साक्षात्

साधन उपनिषद् हैं इस कारण उपनिषद् शब्दवाच्य भी पूर्व की अपेक्षा परा है । यहां पर और अपर शब्द गौण मुख्य के वाचक नहीं लिये जाते किन्तु सुख की प्राप्ति और दुःख के छुड़ाने में पहिला साधन अपरनामक ऋग्वेदादि और द्वितीय ध्यान उपासनादि पर साधन है । उपनिषद् शब्द का अर्थ यह है कि जो मुमुक्षु जन इस लोक वा पर लोक के सुख की भोगाकाङ्क्षा से विरक्त हुए उपनिषद् रूप विद्या को प्राप्त हो के उसी ब्रह्मविद्या में आसक्त हुए अपनी दुःखनिवृत्ति का साधन उसी को निश्चय से मान कर उस विद्या का वार२ अभ्यास करते हैं उन ज्ञानी जनों की दुःख में बांधने वाली वासनारूप रस्सियों का नाश होने रूप अर्थ से ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् भी है ॥ उपनिषद् में कहा भी है कि उसी ब्रह्म को जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से मनुष्य छूटता है । अर्थात् उपनिषद् शब्द उप, नि, उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्ययान्त बनता है जिस धातु के तीन अर्थ हैं विशरण, गति, अवसादन, इन में विशरण नाम हिंसा वा नाश का है सो दुःखोत्पादक वासनाओं का नाश प्रथम अर्थ से दिखाया गया । द्वितीय अर्थ गति है सो दुःख वासनाओं के नाश से उसी ब्रह्मविद्या के आश्रित हो मुमुक्षु जन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं इस लिये ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य एक ही साधन होने से भी ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है । तथा जो विद्या अविद्यादि पांच क्लेश और कर्मफलों के अनुभव से उत्पन्न हुई, दुःख जन्म, प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान में प्रवृत्ति कराने वाली अनादिकाल से सञ्चित वासनाओं को शिथिल करती है अर्थात् दुःख में बांधने वाली वासनारूप रस्सियों को शिथिल करना इन

तीनों अर्थों से ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् भी हो सकता है यह बात स्थिर हुई ॥

पूर्व कही जो सुखप्राप्ति की इच्छा और दुःख का त्याग उस की सिद्धि ब्रह्मविद्या के विना सम्भव नहीं है क्योंकि सब दुःखों से पृथक् ब्रह्म के ज्ञान से ही सुखप्राप्ति और दुःख का त्याग हो सकता है श्रुति में भी कहा है कि आत्मज्ञानी पुरुष शोक के पार हो जाता है। और ब्रह्म एक वेद से ही जानने योग्य है श्रुति में कहा भी है कि सब वेद जिस प्रापणीय परमेश्वर को कहते हैं इत्यादि सो कर्मकाण्ड में परम्परा से ब्रह्म का प्रतिपादन है तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में मुख्य कर साक्षात् ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। कहा भी है कि उपनिषद् रूप शास्त्र से जानने योग्य पुरुष—ईश्वर का व्याख्यान करें गे। इस में उपनिषद् शब्द से प्रसिद्ध वेद के सिद्धान्तानुकूल वेदान्तशास्त्र ही समस्त दुःखों का छुड़ाने वाला है सो कहा भी है कि (समाधि०) समाधि से निरन्तर जिस का मल धोया गया ऐसा चित्त जब आत्मा में लगाया जाता है तो उस से जो सुख होता है वह वाणी से नहीं कहा जाता किन्तु वही उपासक यथावत् जानता है। परमात्मा में चित्त का निवेश करना वेदान्तशास्त्र में कही विधि के अनुसार बन सकता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही सब से शुद्ध सनातन और तीनों काल में सब दुःखों से रहित है इस लिये उसी के ज्ञान और उपासना से मनुष्य सब दुःखों से छूट सकता है जैसे उपास्य की उपासना करे गा वैसे गुण उपासक में भी स्वत एव आवें गे यह न्याय से सिद्ध है। और ईश्वर की ज्ञान उपासना इन्हीं उपनिषद् शास्त्रों से यथावत् बन सकती है। इस लिये उपनिषद् रूप वेदान्त

शास्त्र का आश्रय ही मनुष्य का अभीष्ट साधक है । इस से य। उपनिषद् शास्त्र जिज्ञासु के लिये सर्वोपरि समझना चाहिये

इस वेदान्त शास्त्र में बारह उपनिषद् हैं उन के नाम ये हैं:—१—वाजसनेयी (ईश) २—तलवकार (केन) ३—कठ । ४—प्रश्न ५—मुण्डक । ६—माण्डूक्य । ७—तैत्तिरीय । ८—ऐतरेय । ९—छान्दोग्य । १०—बृहदारण्य। ११—श्वेताश्वतर । १२—मैत्र्युपनिषत् । इन बारहों में वाजसनेयोपनिषद् पहिली है जिस को आधुनिक लोग ईशावास्य बनावटी नाम से बोलते हैं । यह वाजसनेयी उपनिषद् मूल यजुर्वेद की संहिता के अन्तर्गत समझी जाती है। इस यजुर्वेद में ४० चालीश अध्याय हैं इन ३९ उनतालीश अध्याय के द्वारा मुख्य कर कर्मकाण्ड कहा गया है सो यथोक्त कर्म के अनुष्ठान से जिस का अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, इन चार साधनों से युक्त (शम—काम क्रोधादि की शान्ति वा सुख दुःख स्तुति निन्दा आदि से व्याकुल न होना । दम—इन्द्रियों के राजा मन को अपने वश में रखना । तितिक्षा—सहनशीलता । उपरति—संसारी फलभोगों से वैराग्य) जिस ने गृहस्थादि आश्रमों के सुख भोग लिये हों तथा ऋषि, देव और पितृसम्बन्धी तीनों ऋण तीन आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान से चुका दिये हों, इस लोक वा परलोक के सुख भोग की तृष्णा जिस को न रही हो अर्थात् विषय के सुखभोग से वैराग्य हो गया हो ऐसे फलाकाङ्क्षारहित वैदिककर्म करने वाले ब्रह्मज्ञान की इच्छा से युक्त मुमुक्षु पुरुष के लिये १७ मन्त्र वाले वाजसनेय नामक एक ४० चालीशवें अध्याय से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी ज्ञानकाण्ड को कहते हैं ॥

ओ३म्

अथ वाजसनेयोपनिषदारम्भः ॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईशा । वास्यम् । इदम् । सर्वम् । यत् । किम् । च । जगत्याम् । जगत् । तेन । त्यक्तेन । भुञ्जीथाः । मा । गृधः । कस्य । स्वित् । धनम् ॥ १ ॥

अन्वितोऽर्थः—यत् किञ्च—(यत्किमपि) जगत्याम् (पृथिव्याम्) जगत्—(चलनात्मकं स्वरूपतो न्यूनाधिक्येन वर्त्तमानं प्रत्यक्षं घटाद्यात्मकमप्रत्यक्षमनुमानगम्यं परमाण्वाकाशमनोबुद्ध्याद्यात्मकम्) अस्ति तदिदम् (आत्मापेक्षयाप्रत्यक्षमेव) सर्वम् (कार्यकारणरूपेणोभयात्मकम्) ईशा—(यस्यैश्वर्य्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं तेन) वास्यम्—(आच्छादयितुं योग्यमर्थाद्यद्वस्तु यदन्तर्गतं भवति तत्तेनैवाच्छाद्यते जगच्चेश्वरापेक्षयाऽतिन्यूनमतएव तेनाच्छाद्यं तदन्तर्गतमिति भावः। सर्वमात्मन्यवस्थितमिति स्मरणाच्च। यद्वा

वासयितुं योग्यं वास्यं एयन्ताद्यत् तेनैव स्वस्वयोनौ कर्मानुसारतः सर्वः प्राणी वासित इति भावः । अथवा वस्तुं योग्यं वास्यं व्यापकत्वादीश्वर एव सर्वस्मिँश्चराचरात्मके जगति वस्तुमर्हति नान्यः कश्चिदिति तथाचोक्तम्–एको देवः सर्वभूतेषु गूढ इत्यादि) तेन (ईशा परमात्मना) त्यक्तेन–(प्रारब्धकर्मानुसारतो दत्तेन न्यायतोऽनपेतेनान्नादिना) भुञ्जीथाः–(भृत्यविभागपूर्वकमविरोधेन भुङ्क्ष्व । एकः स्वादु न भुञ्जीतेति स्मृतेः) मा गृधः कस्य स्विद्धनम्–(कस्य चिदन्यस्यान्यायतो धनादिपदार्थं माकाङ्क्षीः । यद्वा तेनेशा जगदुत्पत्त्यादि कर्मकुर्वताऽपि त्यक्तेन तन्नित्यत्वादिधर्मापेतेन जगता त्वं भुञ्जीथाः कार्यं कर्म कुर्वन्नपि तत्फलानि मा गृधः तत्फलेष्वासक्तिं मा कुरु । इदं च मुक्तेः परमं साधनम् । कुतः धनं कस्य स्वित् न कस्यापि किन्तु यस्य २ सनीड आगच्छति स २ मुधैव स्वत्वेनाभिमन्यते । यद्वा तेन त्यक्तेन जगति व्याप्तेनापि नश्वरत्वादिजगद्धर्मालिप्तेनार्थाद्दुःखाद्यात्मके जगति वर्तमानेनापि दुःखविमुक्तेनेशा सह तदभिमुखस्त्वं भुञ्जीथाः कार्यं कर्म पालयेथाः मा गृधः तृष्णाविशेषं मा कुरु । कस्य स्विद्धनं सर्वाध्यक्षस्य कस्य चिदेकस्य ईश्वरस्यैव धनमस्ति न तु सर्वस्य

अतस्त्वं धनादिविषयां संसारसुखभोगतृष्णां विहाये-श्वरज्ञानोपासनादिकर्माणि द्वन्द्वमोहराहित्येन कुर्वन् निःश्रेयसमाप्नुहीत्याशयः ॥ १ ॥

भाषार्थः—(यत्, किम्, च) जो कुछ (जगत्यां) पृथ्वी पर (जगत्) अपने स्वरूप से कम बढ़ होने वाला स्वभाव से चलायमान घट आदि प्रत्यक्ष और अनुमान से जानने योग्य परमाणु आकाश मन बुद्धि आदि परोक्ष जगत् है वह (इदम्) परमेश्वर की अपेक्षा सूक्ष्म स्थूल सभी प्रत्यक्ष (सर्वम्) कार्यकारण दोनों रूप जगत् (ईशा) जिस की बराबर वा जिस से अधिक ऐश्वर्यवाला कोई नहीं उस परमेश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य है। यह नियम है कि जो वस्तु जिस के अन्तर्गत होता है वह उसी से ढांपा जाता है जगत् भी ईश्वर की अपेक्षा बहुत छोटा है इस लिये उस से आच्छादन करने योग्य है अर्थात् उस के अन्तर्गत है। मनुस्मृति में लिखा भी है कि सब चराचर जगत् ईश्वर में अवस्थित है। अथवा ईश्वर ने ही सब प्राणीमात्र को कर्मानुसार उस २ की योनि में बसाया है वा यह जगत् ईश्वर से बसने योग्य है अर्थात् व्यापक होने से ईश्वर ही सब चराचर जगत् में निवास कर सकता है अन्य पदार्थ सब एकदेशी हैं। उपनिषद् में कहा भी है कि—एक ही देव परमेश्वर सब जगत् में सूक्ष्मता से व्याप्त हो के अदृश्य हो रहा है (तेन) उस परमेश्वर ने (त्यक्तेन) प्रारब्ध कर्मानुसार दिये न्याय से युक्त स्वकीय अन्नादि से (भुञ्जीथाः) स्त्री पुत्रादि को अविरोधपूर्वक विभाग दे कर तू फल भोग कर [महाभारत में लिखा भी है कि एक मनुष्य स्वादु भोजन अपने आप ही न कर ले किन्तु अपने आश्रितों को भाग दे कर स्वयं

भोगै] (कस्य,स्वित्) अन्याय से किसी दूसरे के (धनम्) धनादि पदार्थ की (मा,गृधः) काङ्क्षा मत कर। अथवा जगत् की उत्पत्ति आदि कर्म करते हुए भी (तेन) उस ईश्वर से (त्यक्तेन) ईश्वर के नित्यत्व आदि धर्म से पृथक् हुए नाशवान् अनित्य जगत् के साथ (भुञ्जीथाः) भोग कर किन्तु कर्तव्य कर्म करता हुआ भी (मा, गृधः) कर्मफल भोग की आकाङ्क्षा मत कर यही मुक्ति का परम साधन है क्योंकि संसार में धनादि पदार्थ किस का है? किन्तु किसी का नहीं। जिस २ के समीप धनादि पदार्थ आता है वह २ अपना मान के मिथ्या अभिमान करता है। अथवा (तेन, त्यक्तेन) जगत् में व्याप्त हुए भी नाशवान् होना आदि जगत् के धर्म से पृथक् वर्तमान अर्थात् दुःखादिरूप जगत् के साथ वर्तमान हुए भी सब दुःखों से विमुक्त उस उक्त ईश्वर के साथ (उस को सन्मुख मान के) (भुञ्जीथाः) कर्तव्य कल्याणकारी कर्मों की पालना कर (मा गृधः) अधिक तृष्णा मत कर क्यों कि (कस्य, स्विद्धनम्) धनादि पदार्थ किसी एक सर्वाध्यक्ष ईश्वर का है किन्तु सब का नहीं है इस लिये हे मनुष्य तू धनादि पदार्थ सम्बन्धी संसारी सुखभोग की तृष्णा को छोड़ के निन्दा स्तुति आदि द्वन्द्व और शोकमोहादि को त्याग के ईश्वर का ज्ञान और उपासनादि कर्म करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होने का उपाय कर यही मुख्य अभिप्राय है ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कुर्वन् । एव । इह । कर्म्माणि । जिजीविषेत् । शतम् । समाः । एवम् । त्वयि । न । अन्यथा । इतः । अस्ति । न । कर्म्म । लिप्यते । नरे ॥ २ ॥

इह (अस्मिन् संसारे मनुष्यजन्मनि वा) कर्माणि (कर्तुं योग्यानि धर्म्याण्यग्निहोत्रादीनि नित्यनैमित्तिकभेदभिन्नानि वेदादिसच्छास्त्रप्रतिपादितानि विधिनिषेधमुखपराणि निःश्रेयसहेतूनि) कुर्वन्नेव शतं समाः (जीवेम शरदः शतमित्यादि वेदप्रामाण्यान्मनुष्यस्यायुषः शतं वर्षाण्यवधिः । अतः शतं वर्षाणि) जिजीविषेत् (जीवितुमिच्छेत्) एवम् (उक्तप्रकारेण निष्काम्यं कर्म कुर्वन् जिजीविषति) त्वयि नरे (मनुष्ये) कर्म्म न लिप्यते (असारसंसारसागरसंसरणहेतुकं न भवतीति भावः) इतः (उक्तप्रकारात्) अन्यथा (अन्यः प्रकारः कर्मालेपस्य) न (नास्ति) (अर्थाल्लौकिकफलभोगाकाङ्क्षया कर्म्माणि कुर्वंस्तु लिप्यत एव । यथा यावज्जीवं स्वभावसिद्धानि प्राणयात्रापराणि कर्म्माणि ज्ञानिभिरपि क्रियन्त एव । एवं तैर्यथाधिकारं यथाकालं यथादेशं यथावेषं यथावस्थं च कार्यं कर्म कर्त्तव्यमेव । स्मृतं च "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदा चन इति । कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय इति च" संन्यासिनां च स एव

संन्यासो यत्कर्मफलानां समन्ताद्दृष्टानुश्रविकविषय-भेदेन त्यागः । उक्तञ्चः—"अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः" अतोऽत्रात्मज्ञानाशक्तस्य कर्मोपदेशं वदन्तः प्रत्युक्ताः । तस्मात्कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् न त्वालस्याश्चारूढो नैष्कर्म्यमापन्नो जिजीविषेदिति मन्त्राशयः ॥ २ ॥

(इह) इस संसार वा मनुष्यजन्म में (कर्म्माणि) वेदादि सत्यशास्त्रों में कहे अच्छे का विधान और बुरे का त्यागरूप नित्यनैमित्तिक भेद से दो प्रकार के करने योग्य धर्मयुक्त मुक्ति के हेतु कर्म्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं, समाः) सौ वर्षपर्य्यन्त जीवन की इच्छा करे क्योंकि (जीवेम शरदः शतम्) इत्यादि वेद प्रमाणों से मनुष्य की अवस्था सौ वर्ष की ही सामान्य कर पाई जाती है (एवम्) इस उक्त प्रकार से संसारी फलभोग की इच्छा रहित कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) उक्त वैदिक कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता अर्थात् असार संसाररूप सागर के जन्ममरणादिरूप प्रवाह में बहाने वाला नहीं होता (इतः) इस उक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य कोई प्रकार कर्म में लिप्त न होने के लिये (न) नहीं है । अर्थात् लौकिक फलभोग की अभिलाषा से कर्म करता हुआ तो लिप्त होता ही है किन्तु संसारी फलभोग से विरक्त होकर कर्त्तव्य वैदिक कर्मों के करने से ही मुक्ति का अधिकारी हो सकता है । जैसे जन्मपर्यन्त भोजन आदि स्वाभाविक कर्मों को ज्ञानी लोग भी करते ही हैं वैसे उन ज्ञानि

जनों को योग्य है कि सामर्थ्य, देशकाल अवस्था और वेष के अनुकूल कर्त्तव्य कर्मों को अवश्य किया करें। भगवद्गीता में कहा भी है कि (कर्मण्येवा०) तेरा सामर्थ्य कर्म करने में ही रहे किन्तु फलभोग की अभिलाषा न रहे क्योंकि राजा जनकादि भी कर्म करने से ही परमसिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। संन्यासियों का भी संन्यास यही है कि जो इस लोक वा परलोक के सुखभोगों का त्याग अर्थात् उन से विरक्त होना। कहा भी है कि कर्मफल का आश्रय न करके जो कर्त्तव्य वैदिक कर्म को करता है वही संन्यासी और योगी कहाने योग्य है किन्तु निकम्मा आलसी जन संन्यासी नहीं हो सकता। इस लिये जो लोग यह कहते हैं कि आत्मज्ञान में असमर्थों के लिये कर्मोपदेश है उन का उत्तर हो गया। इस से यह आया कि कर्मों को करता हुआ ही जीवन की इच्छा करे किन्तु आलस्यरूप घोड़े पर चढ़ा निकम्मा हो कर न रहे। यही इस मन्त्र का अभिप्राय है ॥ २ ॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

असुर्य्याः। नाम। ते। लोकाः। अन्धेन। तमसा। आवृताः। तान्। ते। प्रेत्य। अपि। गच्छन्ति। ये। के। च। आत्महनः। जनाः ॥ ३ ॥

इदानीमस्मात्स्त्र्यन्नपानैश्वर्य्ययौवनप्रभुत्वराज्यादिजन्यदृष्टसुखात्परं पारमार्थिकमात्मज्ञानानुभूतम-

व्याहतं सुखं न मन्यन्ते न वा जानन्ति तदर्थं वा न प्रयतन्ते तेषामनिष्टफलवादरूपा निन्दोच्यते । उक्तं च भगवद्गीतासु—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

ये के च (ये के चित्) आत्महनः (कामक्रोधादिवशानुगतयाऽविद्यादिदोषेण वा तिरस्करणात् सर्वाध्यक्षं पितृवदुत्पाद्य पालकं शुद्धं सनातनमात्मानं घ्नन्ति तद्विमुखा भवन्त्यतएव कृतघ्नत्वादिदोषदूषिताः सन्तः) अन्धेन तमसाऽऽवृताः (अदर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसा ग्लानिकारकेणानन्दबाधकेनावृता आच्छादिताः) ते नाम (प्रसिद्धौ) जना असुर्या (असुषु प्राणेषु तत्पोषणादिव्यवहारे रममाणास्तेषामिमे स्वे सम्बन्धिनस्तदन्तर्गताः) लोकाः (कर्मफलानि लोकमानाः फलभोगोत्सुकाः) सन्ति । ते च प्रेत्य (शरीरं त्यक्त्वा) तान् (असुरसम्बन्धिनः स्थावरान्तान् देहान्) अपि गच्छन्ति (निश्चयेन प्राप्नुवन्ति सर्वासु योनिषु जन्ममरणादिप्रवाहेण भ्रमन्ति) आत्मज्ञानप्लवेनैकेनैव साधनेन सन्तरन्तीति मत्वाऽऽत्मज्ञानोपायः कर्त्तव्य इत्याशयः ॥ ३ ॥

अब तृतीय मन्त्र में जो इस स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्यभोग, युवावस्था, मान्य और राज्यादि से होने वाले प्रत्यक्ष सुख से परे आत्मज्ञान से अनुभव में आने वाले परमार्थ सम्बन्धी अखण्डित सुख को नहीं मानते वा उस को नहीं जानते अथवा उस की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करते उन को अनिष्टफल दुःख प्राप्त होता ही है यह दिखाते हैं (भगवद्गीता में कहा भी है कि जो भोग और ऐश्वर्य के मद में आसक्त हो रहे हैं और स्त्री आदि सम्बन्धी विषयों में जिन का चित्त अत्यन्त फंसा हुआ है अर्थात् विषय वा धनादि के भोग में जिन की बुद्धि निश्चित हो रही है वे समाधि के योग्य नहीं हो सकते) (ये, के, च) जो कोई (आत्महनः) कामक्रोधादि के वश में होने से वा अविद्यादि दोषों से पिता के तुल्य पालन करने वाले सब के स्वामी शुद्ध सनातन परमेश्वर को न माननारूप हिंसा करते अर्थात् उस से विमुख होते हैं इसी से कृतघ्नता दोष से दूषित हुए (अन्धेन) जिस में कुछ न जान पड़े ऐसे अज्ञानरूप (तमसा) आनन्द के नाशक ग्लानि के हेतु तमोगुण से (आवृताः) आच्छादित हुए (ते) वे (नाम) प्रसिद्ध (असुर्याः) प्राणों के पुष्ट करने आदि व्यवहार में रमने वाले असुरों के सम्बन्धी वा असुरों में संख्यात (लोकाः) कर्मफल भोग को ही देखने वाले (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे भी (प्रेत्य) वर्त्तमान शरीर छोड़ के (तान्) असुरसंबन्धी योनियों को (अपि, गच्छन्ति) प्राप्त होते अर्थात् सब योनियों में जन्ममरणादि प्रवाह से निरन्तर भ्रमते हैं। और इस प्रवाह से निकलने के लिये आत्मज्ञानरूप एक ही नौका है ऐसा मान कर आत्मज्ञान का उपाय करना चाहिये यही मुख्य अभिप्राय है ॥ ३ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैन-
द्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्। तद्धावतो-
ऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मा-
तरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

अनेजत्। एकम्। मनसः। जवीयः। न। एनत्। देवाः। आप्नुवन्। पूर्वम्। अर्षत्। तत्। धावतः। अन्यान्। अत्येति। तिष्ठत्। तस्मिन्। अपः। मातरिश्वा। दधाति ॥ ४ ॥

अन्वयः—अतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ये केचात्महनो जना इत्युक्तम्। तदात्मतत्त्वं कीदृशमित्युच्यते। यद् ब्रह्म मनसो जवीयः (भौतिकेन्द्रियाणामधिष्ठातृ मनो विषयावधि गतिमत्—ब्रह्म तु विषयातिक्रान्तं यत्र मनसो गतिरपि नास्ति तत्रापि विद्यत एवेति भावः। कस्यचिद्विषयस्य सुस्मूर्षया सहस्रं क्रोशान् मनः सद्यस्तरां गच्छति यावता कालेन मनस्तत्र गच्छति ततः परमपि ब्रह्म पूर्वत एव स्थितं सर्वव्यापित्वादिति मनसो जवीयस्त्वं ब्रह्मणः) तत्—एकं (अद्वितीयम्) अतएवानेजत् (एजनं कम्पः स तु साकारस्य धर्मो यस्तु कम्परहितो निराकारः स इति निश्चीयते। अथवानेजन्निर्भयम्। द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुतेर्न तादृशोऽन्यः कश्चिदस्ति तस्यैकत्वादिति लोके यदति-

वेगवद्स्तु तस्य क्रियावत्त्वादकम्पनं विरुद्धम् । ब्रह्म तु जवीयस्त्वेप्यकम्पं कूटस्थमिति । अनेजज्जवीयश्चेति विशेषणद्वयेन विरोधालङ्कारो भासत इति) एनत् (मनोगतिमतिक्रान्तमत एव) देवाः (विषयद्योतकानीन्द्रियाणि) नाप्नुवन् (न प्राप्नुवन्ति। स्वस्वविषयग्राहकत्वं तत्तदिन्द्रियत्वं न कश्चिद्बौतिको विषय आत्मा यमिन्द्रियाण्याप्नुयुरिति) यद्यपि पूर्वमर्षत्—(इन्द्रियविषयादिषु पूर्वत एव व्योमवद्व्याप्त आत्मा तथापीन्द्रियाविषयोऽतः श्रोत्रेण रूपग्रहणवत्तैर्न गृह्यते) तत् तिष्ठत् (गतिनिवृत्तम्) धावतोऽन्यान् (स्वस्वविषयान् प्रतिपततइन्द्रियादीन्) अत्येति—(उल्लङ्घ्य परम्परं गच्छतीव न कश्चिदिन्द्रयादिसाधनैर्ब्रह्म प्राप्तुमर्हतीति भावः) अथवाऽनित्यैश्वर्य्यवत्सु जलस्थलादिजडपदार्थेषु ब्रह्मप्राप्त्यर्थं धावतोऽन्यान् विदुष इतरानविदुषोऽत्येति। यतो यतस्ते धावन्ति ततस्ततः प्राप्तेरसम्भवात्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्। इहैव निहितो गुहायामिति च प्रतिपादनात्प्रत्यगात्मं धावतः प्राप्तेः सम्भवः । तस्मिन्—(ब्रह्मणि सत्येव तस्य सत्तायामेव) मातरिश्वा (वायुः) अपः (जलानि मेघादिरूपाणि) दधाति—(धारयति—आत्मसत्ता-

बलीयसी) अथवा तस्मिन्सत्येव मातरिश्वा वायुर्देहेन्द्रियादिष्वपः कर्माणि दधाति । सूत्रात्मको वायुरपि ब्राह्मीं सत्तामन्तरेण चेष्टाहेतुर्भवितुमशक्त इति । अथवा तस्मिन्सत्येव मातरिश्वा प्राणो नाम वायुरपः कर्माणि—ऊर्ध्वगमनादीनि धारयति । स उ प्राणस्य प्राण इति प्रामाण्यादात्मसत्तामन्तरा प्राणोऽपि स्वचेष्टां कर्तुमक्षम इति । अथवा तस्मिन्परमात्मनि सत्येव मातृस्थे उदरे गर्भाशये श्वयति वर्द्धते श्वसितीति वा मातरिश्वा जीवात्माऽपः कर्माणि दधाति । असति शुभाशुभकर्मफलदातरि ब्रह्मणि प्रयोजनाभावात्कर्म्मधारणमप्यसम्भवम् । ईश्वरव्यवस्थया कर्मफलं प्राप्स्याम इति मत्त्वैव जीवात्मभिः शुभं कर्म ध्रियते क्रियते च। अशुभं तु शुभभ्रान्त्या कामक्रोधादिवशेन वा क्रियत इति ॥४॥

भाषार्थः—इस से पूर्व तृतीय मन्त्र में आत्मघाती जनों की दुर्दशा दिखायी है सो वह आत्मतत्त्व कैसा है यह दिखाते हैं—जो ब्रह्म (मनसः) भौतिक इन्द्रियों का राजा विषयों तक पहुंचने वाला है उस मन से भी (जवीयः) अत्यन्त वेग वाला अर्थात् जहां मन की गति भी नहीं वहां भी ब्रह्म विद्यमान है। किसी विषय के स्मरण की इच्छा से मन हजारों कोश पर अतिशीघ्र पहुंचता है जब तक मन वहां पहुंचता है तिस से भी पहिले आत्मा आगे असंख्य कोशों तक व्यापक होने से विद्यमान

है इस कारण मन से भी आत्मा अतिवेगवान् है। (एकम्) वह ब्रह्म एक अद्वितीय है (अनेजत्) कांपना चलायमान होना साकार पदार्थों का धर्म है उस कम्पन से रहित है इस लिये निराकार है अथवा एक होने से सर्वथा निर्भय है अपने सदृश दूसरे से भय होता है सो न तो कोई ईश्वर के समान उसकी बराबर का और न उस पर कोई बलवान् है जिस से भय हो इस लिये निर्भय है। परमात्मा लौकिक पदार्थों से विलक्षण है लोक में जो अतिवेगवान् वस्तु है वह क्रियागुण से युक्त होने के कारण कम्पन और विकार वाला होता है और ईश्वर अतिवेगवान् होने पर भी कम्पन और विकार वाला नहीं होता। अतिवेगवान् और कम्पन इन दो विशेषणों से विरोधालङ्कार प्रतीत होता है। (एनत्) मन की गति को उलंघन करने वाला होने से उस को (देवाः) विषयों का ज्ञान कराने वाले ज्ञानेन्द्रिय (न, आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होते। अपने २ गन्धादि विषय को ग्रहण करना उस २ इन्द्रिय का इन्द्रियपन है आत्मा किसी इन्द्रिय से ग्राह्य विषय नहीं है जिस को इन्द्रिय प्राप्त हो सकें-यद्यपि (पूर्वम्, अर्षत्) इन्द्रिय और विषयादि में आत्मा पहिले से ही आकाश के तुल्य व्यापक है तथापि इन्द्रियों का विषय न होने से कान से रूप के समान इन्द्रियों से नहीं गृहीत होता। वह (तिष्ठत्) अचल ब्रह्म (धावतः) अपने २ विषयों की ओर भागते (अन्यान्) इन्द्रियों को (अत्येति) उलंघ कर आगे २ चलता है अर्थात् इन्द्रियादि साधनों से कोई ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता। अथवा अनित्य ऐश्वर्य्य वाले जल-स्थल आदि पदार्थों में बाहर २ ब्रह्म प्राप्ति के लिये भागने वाले अविद्वानों को ईश्वर नहीं मिलता क्योंकि वे जिधर २

को भागते हैं उधर २ ईश्वर की प्राप्ति होना असम्भव है किन्तु "कोई शान्ति आदि गुण युक्त पुरुष इसी अपने अन्तःकरण में व्याप्त ईश्वर को ध्यान दृष्टि से देखता है" इस से यह आया कि जो अपने भीतर को भागते हैं उन को ईश्वर प्राप्त होता है। (तस्मिन्) उस ब्रह्म की सत्ता में ही (मातरिश्वा) वायु (अपः) मेघादिरूप जलों को (दधाति) धारण करता है अर्थात् परमेश्वर की सत्ता सब से बलवान् है। अथवा उस आत्मा की सत्ता में ही सूत्रात्मा वायु देह और इन्द्रियादि में कर्मों को धारण करता है अर्थात् ईश्वर की सत्ता के बिना सूत्रात्मा वायु भी अपना चेष्टारूप कर्म कराने में असमर्थ है। अथवा उस ईश्वर की सत्ता में ही प्राण वायु ऊपर को चलना आदि कर्मों को धारण करता है। "वह प्राण का भी प्राण है" ऐसा कहने से ईश्वर की सत्ता के बिना प्राण भी अपना काम नहीं दे सकता। अथवा उस की सत्ता में ही माता के उदर में बढ़ने वा श्वास लेने वाला जीवात्मा कर्मों को प्राप्त होता है। यदि कोई शुभाशुभकर्मफलों का दाता ईश्वर न हो तो निष्प्रयोजन कर्मों का धारण करना असम्भव है। ईश्वर की व्यवस्था से कर्मफलों को प्राप्त होंगे ऐसा मान के ही जीवात्मा शुभ कर्मों को करता है। अशुभ कर्म तो शुभ कर्म की भ्रान्ति से वा कामक्रोधादि के वश हो कर करता है ॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत् । एजति । तत् । न । एजति । तत् । दूरे । तत् । उ । अन्तिके । तत् । अन्तः । अस्य । सर्वस्य । तत् । उ । सर्वस्य । अस्य । बाह्यतः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तत्—(प्रकृतत्वात्परमात्मरूपं ब्रह्म) एजति—(चलतीव, एकत्रदृष्टस्य वस्त्वन्तरेऽपि स्थितिमतो दर्शनादविदुषां मतेऽचलदपि चलतीव) स्वरूपतस्तु न एजति—(नैव चलति । अनेजदिति विशेषणेन पूर्वमन्त्रे प्रतिपादनात्) तत्—(ब्रह्म) दूरे—(विषयासक्तैर्जन्मसहस्रेणाप्यप्राप्यम्) तत् अन्तिके—(दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णानां तन्निष्ठविदुषां भक्तवत्सलत्वेनातिनिकटेऽस्ति) तद्ब्रह्म—(अस्य सर्वस्य चराचरस्य जगतः) अन्तः—(व्याप्तमस्ति) तदु अस्य सर्वस्य बाह्यतः—(उ इति वितर्के यदान्तरीयां स्थितिमापन्नो भवति न तद्बाह्येस्थितिमुपलभत इति लोके दृष्टचरमेव ब्रह्मतु तद्विरुद्धमिति उशब्देन द्योत्यते । व्यापकत्वान्निरवयवत्वान्निराकारत्वात्सर्वस्य बाह्यमाभ्यन्तरं च व्याप्तमिति भावः ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(तत्) वह पूर्वोक्त परमात्मा (एजति) एक पदार्थ में देख के पदार्थान्तर में भी स्थित दीख पड़ने से अचल एकरस भी ब्रह्म अविद्वानों को चलायमान सा प्रतीत होता है । अर्थात् अविद्वान् लोग जानते और कहते भी हैं कि ईश्वर जब सृष्टि रचन आदि करता है तो वह चलता फिरता भी

होगा और वस्तुतः (न,एजति) नहीं चलायमान होता सो पूर्व मन्त्र में भी कहा है। (तत्) वह परमेश्वर (दूरे) विषयासक्त मनुष्यों से बहुत दूर है अर्थात् हजारों जन्म में भी वे ईश्वर को प्राप्त नहीं हो सकते। (तत्) वह (उ, अन्तिके) इस लोक वा परलोक के सुखभोगों की तृष्णा से रहित उसी में निष्ठा रखने वाले विद्वानों के अति निकट है क्योंकि वह भक्तों पर कृपा करता है (तत्) वह (अस्य,सर्वस्य) इस सब चराचर जगत् के (अन्तः) बीच में व्याप्त है (उ) और (तत्) वह (अस्य,सर्वस्य) इस सब जगत् के बाहर भी है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि जो पदार्थ किसी के भीतर है वह बाहर नहीं रहता। प्रत्यक्ष ईश्वर इस से विलक्षण है। व्यापक निरवयव और निराकार होने से सब पदार्थों के बाहर भीतर व्याप्त है ॥ ५ ॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यः। तु। सर्वाणि। भूतानि। आत्मनि। एव। अनु। पश्यति। सर्वभूतेषु। च। आत्मानम्। ततः। न। विजुगुप्सते ॥६॥

अन्वयः—पुनरात्मानं कीदृशं पश्येदित्युच्यते—यः (शमदमादिसाधितसाधनः) सर्वाणि भूतानि—(उद्भूतानि चराचराणि विश्वानि) आत्मनि एव—(परमात्मन्येव) अनुपश्यति—(अनुगतं पश्यति) सर्वभूतेषु च—(अव्यक्तादिमहास्थूलावधिषु च) आत्मानमीश्वरमनु-

पश्यति–(सर्वस्य द्रष्टा साक्षीत्यनुजानाति) ततः–(आधारत्वेनेप्सिततमत्वेन वा स्वरक्षकस्य स्वामिनः सर्वत्र दर्शनात्) न विजुगुप्सते–(निन्दितं न समाचरति। जुगुप्सनमित्युपलक्षणं पापानां तेन पापाचरणं न करोतीति। सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मन इति मनुवचनात्। स्वस्य स्वामिनो मान्यस्य वाग्रे न कोप्यधर्माचरणं कर्तुमुत्सहत इति लौकिका अपि जानन्ति ब्रुवन्ति च। एवं यः स्वस्वामिनं सर्वत्र व्योमवद्व्याप्तं सर्वस्य द्रष्टारं जानीयात् नैव स स्वामिनोग्रे निन्दितमाचरितुमर्हति। यस्य किमप्याचरणं कस्यचिद्भयाद्दुःखं न भवति। एतदेव सर्वत्रात्मानं पश्यतो लिङ्गम्। यश्च शुभाशुभकर्मफलदाता स तु सर्वत्र पश्यति सर्वं, पुनः कस्माच्चित्पुरुषात् किं गोप्यम् ॥

यद्वा यो ब्रह्मज्ञानाभिलाषुकः सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव स्वस्यान्तःकरण एवानुपश्यति–अनुकूलानि पश्यति परद्रव्येष्वभिध्यानादिदुराध्यानं न करोति न कञ्चिच्छत्रुभूतं वा पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं जीवात्मानं स्वात्मवदनुपश्यति तत एवं पश्यतो जानतो मनो न विजुगुप्सते घृणां न करोति स्वतो विपरीतं पश्यतो घृणा भवति। यथा स्वशरीरान्नहि

घृणा जायते। एवं तद्दृत्पश्यतोऽन्यतो न भविष्यति। विचिकित्सतीति पाठान्तरे संशयापन्नो न भवतीत्यर्थः ॥

भावार्थः—फिर परमेश्वर को कैसा जाने सो कहते हैं (यः) जो मनुष्य शान्ति और जितेन्द्रियतादि गुणयुक्त (सर्वाणि) सब (भूतानि) उत्पन्न हुए चराचर को (आत्मनि,एव) परमेश्वर में ही (अनु,पश्यति) अनुक्रम से व्याप्त देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सूक्ष्म से स्थूलपर्य्यन्त सब पदार्थों में (आत्मानम्) ईश्वर को सब का साक्षी (अनु,पश्यति) जानता मानता है। (ततः) सब का आधार वा अपना अत्यन्त इष्टदेव होने से अपने रक्षक स्वामी को सर्वत्र देखता है इस कारण (न,विजुगुप्सते) निन्दित आचरण अर्थात् पाप नहीं करता। मनुस्मृति में भी लिखा है कि जो सब जगत् को ईश्वर में देखता है वह अधर्म में मन कभी नहीं चला सकता। अपने स्वामी वा किसी मान्य पुरुष के सामने कोई अधर्माचरण करने को प्रवृत्त नहीं होता यह लौकिक लोग भी जानते और कहते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष अपने स्वामी, आकाश के तुल्य सर्वत्र व्याप्त, सब कार्यों को देखने वाला जाने वह अपने स्वामी परमेश्वर के सामने निन्दित आचरण नहीं कर सकता। और ईश्वर को सर्वत्र देखने वाले का चिह्न यही है कि जिस का कुछ भी आचरण अन्तःकरण से विरुद्ध अर्थात् भीतर से भिन्न और बाहर से कुछ और न हो। क्योंकि वह मन की भी जानता है। जो ईश्वर शुभ अशुभ कर्मफलों का देने वाला है वह सब को सब जगह देखता है फिर जब सब का राजा ही भीतरी हाल जानता है तो सेवकों से क्या छिपाना ॥

अथवा मन्त्र का द्वितीयार्थ यह है कि—जो ब्रह्मज्ञान का अभिलाषी पुरुष सब प्राणियों को अपने अन्तःकरण में अनुकूल देखता है अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, वैर वा अन्याय से परपदार्थ हर लेने की बुद्धि से नहीं देखता और सब प्राणियों में अपने आत्मा के तुल्य आत्मा को देखता है अर्थात् जैसे अपना आत्मा चाहै कि मुझ को दुःख कोई न देवे ऐसे सभी का आत्मा है जैसे मुझ को दुःख अनिष्ट है वैसे सभी को अनिष्ट है इस लिये किसी प्राणी को दुःख न देना चाहिये। इस प्रकार से जानते हुए पुरुष का मन घृणा को नहीं प्राप्त होता। जैसे अपने शरीर से किसी को घृणा नहीं होती ऐसे ही अपने तुल्य देखने से और से भी घृणा न होगी। कहीं २ मन्त्र में (विजुगुप्सते) की जगह (विचिकित्सति) पाठ आता है तो वहां यह अर्थ होगा कि उक्त प्रकार से आचरण कर्त्ता पुरुष संशययुक्त नहीं होता है ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन्। सर्वाणि। भूतानि। आत्मा। एव। अभूत्। विजानतः। तत्र। कः। मोहः। कः। शोकः। एकत्वम्। अनुपश्यतः ॥ ७ ॥

अन्वयः—यस्मिन्—(भूतेभ्यो विरागे सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातसमाधिकाले) विजानतः—(विशेषेण ज्ञानवतः पुरुषस्यैहिकसुखभोगात्प्राप्तवैराग्यस्य) सर्वाणि

भूतानि—(इष्टमित्रादिभेदभिन्नानि सुखदुःखहेतूनि) आत्मैवाभूत्—(आत्मैव भवन्ति बाह्येन्द्रियैर्भूतानि पश्यन्नपि न पश्यति मनस आत्मनि लग्नत्वात्। मनःसंयोगानपेक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षस्यापि ज्ञानकारणत्वाभावात् । यथा कस्यचिद्विषयस्य प्राप्त्यर्थमुत्सुकः पुरुषस्तद्विषयमेव सर्वत्र पश्यति सर्वाणि वस्तून्यभीष्टविषयरूपाण्येव पश्यति। तथैवात्मज्ञानोत्सुक आत्मरूपमेव सर्वमनुपश्यति नान्यत्पश्यति प्रयोजनाभावात् । उक्तं च व्यासेन—"शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः । संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी" एवमेकत्वमनुपश्यतो योगिनः) तत्र—(समाधिकाले) को मोहः कः शोकः ? (न कोपीत्यर्थः) शोकमोहौ त्वभीष्टविषयभोगायोत्कण्ठापूर्वकं धावतस्तदप्राप्तौ प्राप्तावपि क्षीणाभिलाषस्य जायेते । न तु तत्त्यक्तवत इति शम् ॥ ७ ॥

भाषार्थः—(यस्मिन्) जिस समय संसार से वैराग्य हो कर सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात समाधि हो तब (विजानतः) इस लोक परलोक के सुखभोग से वैराग्य को प्राप्त हुए पुरुष की दृष्टि में (सर्वाणि) सब (भूतानि) इष्टमित्र शत्रु उदासीन आदि प्राणि (आत्मा,एव,अभूत्) आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् मन

के आत्मज्ञान में लीन रहने से बाह्य इन्द्रियों से प्राणियों को देखता हुआ भी नहीं देखता क्योंकि मन के संयोग के विना बाह्य इन्द्रियों से कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे किसी विषयज्ञान की प्राप्ति के अर्थ उत्सुक हुआ पुरुष उसी विषय को सर्वत्र देखता है अर्थात् सब वस्तुओं को अभीष्ट विषयरूप ही देखता है। ऐसे ही आत्मज्ञान में लवलीन पुरुष सब को आत्मरूप ही देखता है क्योंकि अन्य पदार्थ से उस का कुछ भी प्रयोजन नहीं। व्यास जी ने योगभाष्य में कहा भी है कि "खटिया वा आसन पर बैठा वा लेटा हो वा मार्ग में चलता हुआ हो सब समय में विषयभोगों से स्वस्थ हो कर उसी ईश्वर में जिस का चित्त लगा है वह सब तर्क वितर्कादि छोड़ के मुक्ति का भागी होता है" इस प्रकार (तत्र) उस समाधि सयम में (एकत्वम्) एक ही ईश्वर को सर्वत्र देखते हुए योगी जन को (कः, मोहः) कौन अज्ञान और (कः, शोकः) कौन शोक हो सकता है?। अर्थात् कोई नहीं। जो कोई अभीष्ट विषयभोग के लिये उत्कण्ठा पूर्वक भागता है और उस को वह विषयसुख प्राप्त न हो वा प्राप्त होने से अभिलाषा क्षीण हो जावे तब उस को शोक मोह होते हैं किन्तु जिस ने प्रथम से ही विषयसुखभोग की अभिलाषा त्याग दी उस को शोक मोह होने सम्भव नहीं ॥७॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८॥

सः । परि । अगात् । शुक्रम् । अकायम् । अव्रणम् । अस्नाविरम् । शुद्धम् । अपापविद्धम् । कविः । मनीषी । परिभूः । स्वयम्भूः । याथातथ्यतः । अर्थान् । वि । अदधात् । शाश्वतीभ्यः । समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्वयः—(सः) यस्मिन् पूर्वोक्त आत्मनि ज्ञाते सति शोकमोहादयो विनिवर्त्तन्ते सः (पर्य्यगात्) परितो गतवान् व्योमवद्व्याप्तः सर्वत्र, किम्भूत आत्मेति विशेषणानि—(शुक्रम्) शुक्रः । लिङ्गव्यत्ययः सर्वत्र । आशुकरोत्युत्पत्यादिकमिति शुक्रः । अथवा शुक्रः शुक्लो दीप्तिमान् (अकायम्) स्थूलसूक्ष्मलिङ्गशरीररहितः । अतएव (अव्रणम्) क्षतादिरहितः । अकायत्वादेवाव्रण इति हेतुगर्भविशेषणम् । (अस्नाविरम्) नाड्यादिसम्बन्धवर्जितः । अकायत्वादेवेति हेतुगर्भविशेषणम् । अतएवाकायत्वात् (शुद्धम्) निर्मलम् । शरीरी तु द्वादशभिः शरीरमलैर्युक्तो भवति । उक्तं च व्यासेन योगे—

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्पन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥"

उक्तकारणादेव (अपापविद्धम्) पापफलैः सर्वदा वर्जितः । शरीरेणैव पापानुष्ठानसम्भवात् । (कविः) सर्वदृक् (मनीषी) मनसो ज्ञातुर्जीवात्मनोपि शिता-

ऽध्यक्षः (परिभूः) सर्वेषामुपरिभवतीति (स्वयम्भूः) स्वयमेव सत्तात्मको न कस्यचिदाश्रयेणेति। एवम्भूतो नित्यमुक्त ईश्वरः। (समाभ्यः) संवत्सरैः परिमितायुष्काभ्यः स्वदृष्टौ तुल्याभ्यो वा (शाश्वतीभ्यः) जातिरूपेण कल्पकल्पान्तरेषु प्रवाहरूपेण वा निरन्तरं वर्त्तमानाभ्यः प्रजाभ्यः (याथातथ्यतः) यादृशं यस्य कर्म तादृशान् (अर्थान्) फलरूपान् भोग्यान् पदार्थान् (व्यदधात्) विदधाति कर्मानुरूपं फलं सर्वस्मै प्रयच्छतीति ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(सः) जिस पूर्वोक्त आत्मा के ज्ञान होने में शोक मोहादि निवृत्त होते हैं वह परमात्मा (परि,अगात्) आकाश के तुल्य सर्वत्र व्याप्त हो रहा है वह परमेश्वर कैसा है कि (शुक्रम्) संसार को शीघ्र ही उत्पन्न करने वाला वा प्रकाशवान् (अकायम्) स्थूल सूक्ष्म और लिङ्ग शरीर रहित इसी लिये अर्थात् शरीर रहित होने से ही (अव्रणम्) खोद वा छेद फोड़ा फुंसी रहित (अस्नाविरम्) नाड़ी नसों के बन्धन से रहित तथा शरीररहित होने से ही (शुद्धम्) निर्मल है क्योंकि शरीर वाला बारह प्रकार के मलों से युक्त होता है ये बारह प्रकार के मल मनुस्मृति के पञ्चमाध्याय में गिनाये हैं और योगशास्त्र में व्यास जी ने शरीर को ही अशुद्ध ठहराया है (स्थानात्) मलमूत्रादि सहित माता का उदर गर्भाशय इस शरीर की उत्पत्ति का स्थान है (बीजात्) इस का कारण उपादान माता पिता का रुधिर (आर्त्तव) और वीर्य है (उपष्टम्भात्) खाये पिये के रस से बढ़ता

(निस्पन्दात्) शरीर के छिद्रों से नित्यप्रति मल झरता (निधनात्) मर जाने पर मुर्दा को अशुद्ध मानते और शास्त्रकार शरीर की नित्य शुद्धि करनेका विधान करते हैं यदि शुद्ध होता तो उस की नित्य शुद्धि क्यों कहते इन सब कारणों से विद्वान् लोग शरीर को अशुद्ध कहते हैं इस प्रकार के अशुद्ध शरीर से ईश्वर सर्वथा रहित है। (अपापविद्धम्) पापफलों से सर्वदा रहित है क्योंकि शरीर से ही पाप होना सम्भव है (कविः) सब का देखने वाला (मनीषी) ज्ञान गुण वाले जीवात्मा का भी अध्यक्ष स्वामी है (परिभूः) सर्वोपरि वर्त्तमान (स्वयम्भूः) अपनी स्थिति के लिये किसी का आश्रय न चाहने वाला स्वयं सिद्ध, इस प्रकार का नित्यमुक्त ईश्वर (समाभ्यः) परिमित वर्ष अवस्था वाली वा अपनी दृष्टि में तुल्य (शाश्वतीभ्यः) जातिरूप से वा कल्पकल्पान्तरों में प्रवाहरूप से निरन्तर वर्त्तमान प्रजा जनों के लिये (याथातथ्यतः) कर्मानुसार (अर्थान्) भोगने योग्य फलरूप पदार्थों को (व्यदधात्) विधान करता अर्थात् यथायोग्य फल देता है ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूयइव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

9328

अन्धम्। तमः। प्र। विशन्ति। ये। अविद्याम्। उपासते। ततः। भूयइव। ते। तमः। ये। उ। विद्यायाम्। रताः ॥९॥

अ०—(ये) वेदतत्त्वार्थमजानन्तः (अविद्याम्) केवलं कर्मकाण्डमात्रम्—अनेन कर्मणा—इदं फल-

माप्स्याम इति बुद्ध्या कर्मतत्फलेष्वेवाहर्निशं भ्रमन्तः (उपासते) तत्तत्कर्मवन्तस्सन्तो निरन्तरं सेवन्ते ते (अन्धन्तमः,प्रविशन्ति) आत्मज्ञानप्रकाशवर्जितं ब्रह्मादिस्थावरान्तं जन्ममरणप्रवाहमेव प्रविशन्ति नतु ततो मुच्यन्त इति (य उ) ये च (विद्यायां, रताः) ब्रह्मचर्य्याद्याश्रमत्रयेणानुष्ठेयं वैदिकं कर्मापि त्यक्त्वा ज्ञानकाण्ड एव रमन्ते (ते,ततः) अविद्योपासनादपि (भूयइव) बहुतरमेव (तमः) अन्धकारम् (प्रविशन्ति) अयमाशयः—यथैकचक्रं यानं यातुमनर्हं भवति। एवम्पूर्वाश्रमत्रयानुष्ठेयवैदिककर्मान्तरेण ज्ञानाय धावन्नपि न प्राप्नोति। चतुर्थाश्रमे त्यागः प्रधानं येन चाश्रमत्रये कर्मैव नानुष्ठितं स कस्य त्यागं करिष्यति ?। अर्थात् ये लौकिकाः परमार्थविमुखा जना ज्ञानकाण्डं सर्वतो विहाय केवलं कर्मणि रमन्ते तेऽन्धकारं प्राप्नुवन्ति । ये च केवले ज्ञाने रताः स्वमूलं गृहाश्रमादिकं च विनिन्दन्ति ते कर्मिभ्योऽप्यधिकतरमन्धकारमाप्नुवन्ति ॥ ९ ॥

भाषार्थः—(ये) जो वेद के तत्त्वरूप अर्थ को न जानने वाले (अविद्याम्) इस कर्म से इस फल को प्राप्त होंगे इस बुद्धि से कर्म और कर्मफलों में रात दिन लगे हुए केवल कर्मकाण्ड का (उपासते) उस २ कर्म के अभिमानी हो कर सेवन करते हैं (ते)

वे (अन्धम्,तमः) आत्मज्ञान के प्रकाश से रहित ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्य्यन्त योनियों में जन्ममरण के प्रवाह को (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं किन्तु उस प्रवाह से पार नहीं होते (य उ) और जो (विद्यायाम्) ब्रह्मचर्य्य आदि तीन आश्रमों में सेवने योग्य वैदिक कर्म को भी छोड़ के केवल ज्ञानकाण्ड में ही (रताः) रमते हैं (ते) वे (ततः) उस अविद्यारूप कर्म की उपासना करने वाले से भी (भूयइव) अत्यन्त अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं। इस सब का अभिप्राय यह है कि जैसे एक पहिये की गाड़ी नहीं चल सकती ऐसे ही ब्रह्मचर्य्यादि तीन आश्रमों से सेवने योग्य वैदिक कर्म किये विना आत्मज्ञान के लिये भागता हुआ भी ज्ञान को प्राप्त नहीं होता। चतुर्थ संन्यास आश्रम में बाह्य कर्मकाण्ड का त्याग मुख्य है जिस ने तीन आश्रमों में कर्म का अनुष्ठान ही न किया वह किस का त्याग करेगा? प्राप्त पदार्थ का त्याग बन सकता है। अर्थात् जो परमार्थ से विमुख लौकिक मनुष्य सब ओर से ज्ञानकाण्ड को छोड़ के केवल कर्मों में रमते हैं वे अन्धकार को पाते हैं और जो केवल ज्ञानकाण्ड में रत हैं और अपनी उत्पत्ति के स्थान गृहाश्रम की भी निन्दा करते हैं वे कर्मकाण्डियों से भी अधिक अन्धकार में पड़ते हैं ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

अन्यत्। एव। आहुः। विद्यया। अन्यत्। आहुः। अविद्यया। इति। शुश्रुम। धीराणाम्। ये। नः। तत्। वि। चचक्षिरे॥१०॥

अ०—विद्यया (ज्ञानकाण्डानुष्ठानेन) अन्यदेव (ज्ञानसाध्यं शान्त्यादिफलम्) आहुः (वदन्ति) अविद्यया (लौकिककाम्यकर्मानुष्ठानेन) अन्यदेव (स्त्रीपुत्रैश्वर्य्यादिरूपं फलम्) आहुः। इति (एवम्प्रकारेण) वयं धीराणाम् (धीमतां गुरुजनानाम्) वचः शुश्रुम (शृणुमः) ये (आचार्य्याः) नः (अस्मभ्यम्) तत् (वचः) विचचक्षिरे (व्याचक्षते) ज्ञानिभिराचार्य्यैः शिष्येभ्यो विद्याऽविद्ययोः फले विभज्य श्रावणीये शिष्यैश्च गुरुसेवाशुश्रूषाभ्यां गुरुभ्यो विद्याऽविद्ययोः फले ज्ञातव्ये इत्याशयः ॥१०॥

भाषार्थः—विद्वान् लोग (विद्यया) ज्ञानकाण्ड के अनुष्ठान से (अन्यदेव) ज्ञान से होने वाले शान्ति आदि रूप फल को (आहुः) कहते और (अविद्यया) कामना के योग्य लौकिक कर्म के अनुष्ठान से (अन्यत्) स्त्री पुत्र और धनसम्पत् की प्राप्ति रूप फल (आहुः) कहते हैं (इति) इस प्रकार हम लोग (धीराणाम्) बुद्धिमान् गुरुजनों के वचन (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो आचार्य (नः) हमारे लिये (तत्) उन वचनों का (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं। ज्ञानी आचार्य्यों को चाहिये कि शिष्यों को विद्या अविद्या का पृथक् २ फल सुनावें और शिष्यों को चाहिये कि सेवा शुश्रूषा करके गुरु लोगों से विद्या के फल को जानें ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

विद्याम् । च । अविद्याम् । च । यः । तत् । वेद । उभयम् । सह । अविद्यया । मृत्युम् । तीर्त्वा । विद्यया । अमृतम् । अश्नुते ॥ ११ ॥

अ०—विद्याऽविद्ययोः फलभेदस्तयोः पृथक् पृथगुपासनयाऽकल्याणप्राप्तिश्चोक्ता। इदानीं तयोः सहोपासनेन शुभफलप्राप्तिमाह । यः (वेदतत्त्वार्थवित्) पूर्वोक्तां विद्यां चाविद्यां च तदुभयं सह (एकेनैव पुरुषेणानुष्ठेयं) वेद (जानाति) सः, अविद्यया (कर्मणा शुद्धान्तःकरणः सन्) मृत्युम् (पुनः पुनर्जन्ममरणप्रवाहम्) तीर्त्वा (पारमुत्तीर्य्य) विद्यया (ज्ञानकाण्डानुष्ठानेन) अमृतम् (मरणधर्मरहितं मोक्षम्) अश्नुते (प्राप्नोति) उक्तं च भगवद्गीतासु—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृदिति ॥

अर्थात् ज्ञाने कर्म कर्मणि च ज्ञानं पश्यत एव परमार्थः सिध्यति नत्वेकारूढ एकचक्रेण रथेनेव कल्याणमवाप्नोतीत्यभिप्रायः ॥११॥

भाषार्थः—पूर्व दो मन्त्रों में विद्या अविद्यारूप ज्ञान और कर्म-काण्ड की उपासना से अशुभफल की प्राप्ति और दोनों उपासना का फल भेद कहा है। अब उन दोनों की साथ उपासना से शुभफल कहते हैं। अर्थात् भेदभाव में जो फल नहीं वह संयोग में है॥ (यः) जो वेद के तत्त्व को जानने वाला विद्वान् (विद्याम्, च, अविद्याम्, च) पूर्वोक्त ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डरूप विद्या अ-विद्या (तदुभयम्, सह) दोनों को एक ही पुरुष से सेवने योग्य (वेद) जानता है (सः) वह (अविद्यया) कर्मकाण्ड के अनु-ष्ठान से शुद्ध अन्तःकरण वाला हुआ (मृत्युम्) वार २ जन्ममर-ण के प्रवाहरूप नदी के (तीर्त्वा) पार होके (विद्यया) ज्ञानकाण्ड के अनुष्ठान से (अमृतम्) मरणधर्मरहित मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त होता है। भगवद्गीता में कहा भी है कि कर्म के बीच ज्ञान और ज्ञान के बीच कर्म को जो देखता है वह मनुष्य बुद्धिमान् वही योगी और सब शुभ कर्म का करता वही है अर्थात् ज्ञान में कर्म और कर्म में ज्ञान को देखते हुए का ही परमार्थ सिद्ध होता है किन्तु एक पर आरूढ़ एक पहि-ये के रथ से जैसे—वैसे कल्याण को प्राप्त नहीं होता॥ ११॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूति-मुपासते। ततो भूयइव ते तमो य-उ सम्भूत्यां रताः॥ १२॥

अन्धम्। तमः। प्र। विशन्ति। ये। असम्भूतिम्। उपा-सते। ततः। भूयइव। ते। तमः। ये। उ। सम्भूत्याम्। र-ताः॥ १२॥

अ०—(ये) अविद्वांसः (असम्भूतिम्) सम्भूयते या सा सम्भूतिः कार्यरूपं जगत् सा यत्र न विद्यते साऽसम्भूतिः कारणं प्रकृतिर्जडात्मिका ताम्—ईश्वरभावेन (उपासते) भजन्ते ते (अन्धन्तमः, प्रविशन्ति) अज्ञानात्मकमन्धकारं प्राप्नुवन्ति (ततः) तस्मात्प्रकृत्युपासनस्य प्रकृतिलीनत्वादिफलात् (भूयइव) बहुतरमेव (तमः) अन्धकारम् (ते) प्राप्नुवन्ति (यउ) ये च (सम्भूत्याम्) कार्य्ये जडे जगति (रताः) उपासनातत्पराः। अर्थात् ये प्रकृत्यादिकारणात्मकं जगत् ईश्वरभावेनोपासते ये च पृथिव्यादि पञ्चभूतात्मकं तद्विकारावयवभूतं वा पाषाणादिजडमुपासते ते सर्वेऽपि—अज्ञानान्धकारमाप्नुवन्ति नैव कदाचित्कल्याणं लभन्ते किन्तु एकस्यैवाद्वितीयस्याव्याहतशक्तेर्ब्रह्मण उपासका सुखं लभन्ते ॥१२॥

भाषार्थः—(ये) जो अविद्वान् लोग (असम्भूतिम्) उत्पत्ति रहित जड़ स्वरूप कारण प्रकृति को ईश्वर मान के (उपासते) उपासना करते हैं वे (अन्धम्,तमः) अज्ञानरूप अन्धकार को (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं (ततः) उस प्रकृति की उपासना से प्रकृति में लीन होना आदि फल से (भूयइव) बहुत अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं (ये, उ) जो तो (सम्भूत्याम्) जड़ कार्य जगत् में (रताः) रत हैं अर्थात् उस जगत् को अभीष्ट साधक समझ के उपासना करते हैं।

अर्थात् जो प्रकृति आदि नाम वाले कारण जगत् को ईश्वर मान के उपासना करते और जो पृथिवी आदि पांच भूतों वा पृथिवी आदि के विकार पाषाण आदि कार्य्य जगत् की ईश्वरभावना से उपासना करते हैं वे सभी अज्ञानरूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं अर्थात् कभी कल्याण को नहीं प्राप्त होते किन्तु एक अद्वितीय सर्वोपरि शक्तिमान् ब्रह्म के उपासक ही सुख को प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्। इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अन्यत् । एव । आहुः । सम्भवात् । अन्यत् । आहुः । असम्भवात् । इति । शुश्रुम । धीराणाम् । ये । नः । तत् । वि । चचक्षिरे ॥-१३ ॥

अन्वयः—(सम्भवात्) कार्य्यजगत उपासनात् (अन्यदेव) आत्मज्ञानोद्भवं नित्यसुखरहितं मन्दबुद्ध्याद्यात्मकमसारसंसारसागरे निमज्जनरूपं फलम् (आहुः) कथयन्ति । (असम्भवात्) जडकारणोपासनात् (अन्यत्) प्रकृतिलीनत्वादिकं फलम् (आहुः) कथयन्ति । (इति) एवं प्रकारकम् (धीराणाम्) विदुषां वचो वयम् (शुश्रुम) शृणुमः (ये) विद्वांसः (नः) अस्मभ्यम् (तत्) उपदेशरूपं वचः (विचचक्षिरे) व्याचक्षते ॥ १३ ॥

भाषार्थः—(सम्भवात्) कार्य जगत् की उपासना से (अन्यदेव) आत्मज्ञान से होने वाले नित्यस्थायी सुख से रहित मन्दबुद्धि हो कर असार संसारसागर में सदैव गोता खानेरूप फल को (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) जड़ कारण की उपासना से (अन्यत्) प्रकृति में लीन होना आदि फल को (आहुः) कहते हैं (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) विद्वानों के वचन हम लोग (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो विद्वान् जन (नः) हमारे लिये (तत्) उस उपदेशरूप वचन को (विचचक्षिरे) व्याख्यान करते हैं ॥ अर्थात् कार्य्य कारण जगत् की उपासना से क्या २ फल होते हैं उन का पृथक् २ व्याख्यान जिज्ञासु लोग विद्वानों से पूछें और विद्वज्जन इन का पृथक् २ फल यथार्थरूप से दर्शावें। जिससे मनुष्यों को कल्याण का मार्ग ज्ञात हो जावे ॥१३॥

सम्भूतिञ्च विनाशं च यस्तद्वेदो भयꣳसह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

सम्भूतिम्। च। विनाशम्। च। यः। तत्। वेद। उभयम्। सह। विनाशेन। मृत्युम्। तीर्त्वा। सम्भूत्या। अमृतम्। अश्नुते ॥ १४ ॥

अ०—कार्यकारणयोः फलभेदस्तदुपासनेनाकल्याणप्राप्तिश्चोक्ता। इदानीं कल्याणप्राप्त्युपाय उच्यते। (यः) पुरुषः (सम्भूतिम्) कार्य्यं शरीरादिजगत् (च) तन्नियमान् (विनाशम्) अदर्शनात्मकं शरीरादेर्जगत-उत्पत्तिकारणम् (च) वासनादिरूपेण स्थितिनियमान्

(तत्,उभयम्) एतद्द्वयम् (सह) (वेद) जानाति सः (विनाशेन) अदृष्टकारणस्य तत्त्वविज्ञानेन (मृत्युम्) उपलक्षणमिदं जन्मनोपि तेनागामिनी ये जन्ममरणे तज्जं मृत्युसदृशं दुःखसागरम् (तीर्त्वा) उत्तीर्य्य (सम्भूत्या) उत्पन्नेन शरीरादिना सहैव (अमृतम्) मरणादिशोकमोहरहितं शान्तिरूपं सुखम् (अश्नुते) प्राप्नोति । जीवन्मुक्तो भवतीत्याशयः । उक्तं च व्यासेन योगशास्त्रे—प्रज्ञाप्रसादमारुह्य—अशोच्यः शोचतो जनान् । भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥१४॥

भाषार्थः—कार्य्यकारण की उपासना का फलभेद और उस की उपासना से कल्याण की प्राप्ति न होना पूर्व कहा अब कल्याण प्राप्ति का उपाय कहते हैं । (यः) जो पुरुष (सम्भूतिम्) शरीरादि कार्य्य जगत् (च) और रचना के नियमों को (विनाशम्) शरीरादि कार्य्य जगत् की उत्पत्ति के अदृश्य कारण को (च) और वासनादि रूप से स्थिति के नियमों को (तत्, उभयम्) इन दोनों के तत्त्वों को (सह, वेद) साथ जानता है अर्थात् जन्ममरण के सम्बन्ध को यथावत् जान लेता है वह (विनाशेन) अदृष्ट कारण के तत्त्वज्ञान से (मृत्युम्) जन्ममरण से होने वाले मृत्यु तुल्य दुःखसागर को (तीर्त्वा) तर के (सम्भूत्या) उत्पन्न हुए कार्य्य शरीरादि के साथ ही (अमृतम्) मरणादि से होने वाले शोक मोह से रहित शान्तिरूप सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है अर्थात् जीवन्मुक्त

इति कृप् धातोः क्विबन्तं रूपं पृषोदरादित्वादिष्टसिद्धिः । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिमिति भगवद्गीतासु । अतो मुमुक्षुणा योगिनावश्यमन्तकाले परमात्मनो ध्यानं कर्त्तव्यं तदाकारवृत्त्या शरीरं त्यक्तव्यमिति भावः ॥१५॥

भाषार्थः—योगी पुरुष मरण समय जैसी प्रार्थना ईश्वर की करे सो इस मन्त्र में कही है । मेरा (वायुः) प्राणादिरूप वायु इस शरीर से निकल के (अमृतम्) मरणधर्मरहित (अनिलम्) सूत्रात्माव्यापक वायु को प्राप्त हो अथवा (वायुः) जन्मजन्मान्तरों में जाने आने वाला मेरा जीवात्मा (अनिलम्) जिस में पृथिवी का विकार शरीरादि नहीं ऐसे (अमृतम्) मोक्ष को प्राप्त हो (अथ) इस के पश्चात् (इदम्) यह प्रत्यक्ष (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) भस्म हो जावे । योगी के प्रति वेद का उपदेश है कि हे (क्रतो) आत्मा में निश्चय करने वाले योगिजन तू (ओ३म्) प्लुत ओंकार का उच्चारण करके उस ओंकार के वाच्यार्थ परमात्मा का (स्मर) स्मरण कर (क्लिबे) इष्टप्राप्ति के लिये मैं समर्थ होऊं इस प्रकार (स्मर) स्मरण ध्यान कर (कृतम्) पहिले किये यम नियमादि कर्म का इस समय सहायार्थ (स्मर) स्मरण कर । भगवद्गीता में भी कहा है कि "ओ३म्" इस एकाक्षर को बोलता और उस के वाच्यार्थ ईश्वर का ध्यान करता हुआ जो शरीर को छोड़ता है वह परमगति—मोक्ष को प्राप्त होता है । इस लिये अन्त समय में मुमुक्षु योगी पुरुष

को परमात्मा का ध्यान अवश्य करना चाहिये अर्थात् चित्त को ईश्वर में लवलीन कर शरीर छोड़ना चाहिये ॥ १५ ॥

अग्ने नय सुपथा रायेऽ अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

अग्ने । नय । सुपथा । राये । अस्मान् । विश्वानि । देव । वयुनानि । विद्वान् । युयोधि । अस्मत् । जुहुराणम् । एनः । भूयिष्ठाम् । ते । नमउक्तिमिति नमःऽउक्तिम् । विधेम ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (देव) कान्तियुक्तेश्वर त्वम् (विश्वानि) सर्वाणि (वयुनानि) कर्माणि (विद्वान्) जानन् (अस्मान्) (राये) ऐश्वर्य्याय तत्प्राप्तये (सुपथा) शोभनेन सरलेन मार्गेण (नय) चालय । भवदन्तर्यामिप्रेरणया सुमार्गेण गच्छेयमिति भावः । (जुहुराणम्) कुटिलम् (एनः) पापम् (अस्मत्) अस्मत्तः (युयोधि) पृथक् कुरु (ते) तुभ्यम् (भूयिष्ठाम्) बहुतराम् (नमउक्तिम्) नमो वचनानि वयम् (विधेम) कुर्य्याम । नमस्कारैस्त्वां परिचरेम त्वं मां सुमार्गेण गमयेति प्रार्थयामः ॥१६॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (देव) अद्भुतशोभायुक्त ईश्वर आप (विश्वानि) सब (वयुनानि) कर्मों को (विद्वान्)

जानते हुए (अस्मान्) हम को (राये) मोक्षरूप ऐश्वर्य प्राप्त होने के अर्थ (सुपथा) सुन्दर सरल मार्ग से (नय) चलाइये अर्थात् आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सुमार्ग में हम चलें और (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) पाप को (अस्मत्) हम से (युयोधि) पृथक् कीजिये इस कारण (ते) आप के लिये हम लोग (नमउक्तिम्) नमस्कार (विधेम) विधान करें अर्थात् नमस्कारों से आप की सेवा करें आप हम को सुमार्ग से चलाइये ॥ १६ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खम्ब्रह्म॥१७॥

हिरण्मयेन। पात्रेण। सत्यस्य। अपिहितम्। मुखम्। यः। असौ। आदित्ये। पुरुषः। सः। असौ। अहम्। ओ३म्। खम्। ब्रह्म ॥ १७ ॥

अन्वयः—(हिरण्मयेन) स्वर्णमयेन। उपलक्षणमेतद्रजतादीनाम्। (पात्रेण) दारिद्र्यजन्यदुःखाद्रक्षकेण (सत्यस्य) यथार्थस्वरूपस्य मोक्षस्य (मुखम्) द्वारम् (अपिहितम्) अन्तर्हितम्। अत्र जगति सुवर्णाद्यैश्वर्यं प्रायशो विषयभोगसाधनं विषयाश्च मुक्तेर्बाधका इत्यतः परम्परया हिरण्याद्यैश्वर्यं मोक्षद्वारस्य कपाटवदस्तीत्याशयः। तद्वैराग्येण मोक्षः प्राप्तुं शक्यइति। (यः) (असौ) व्यापकत्वादिन्द्रियागोचरः

ादित्ये) प्रकाशमये प्रलयावसरे सर्वस्यादातरि
रूपे स्थिरः (पुरुषः) पूर्णः परमात्मास्ति। (सः,
) (अहम्) तदाकारवृत्तित्वात्तदभिन्नवृत्तिरहमपि-
मिति वाक्यशेषः। ओमिति नामवाच्यम् (खम्)
कारम् (ब्रह्म) अस्ति तदेव ध्यायेदिति ॥ १७ ॥

१७—(सत्यस्य) परमेश्वर के साक्षात्कार ज्ञानरूप मोक्ष का
म्) द्वार (हिरण्मयेन) सुवर्ण आदि (पात्रेण) दरिद्रता से
वाले दुःख से रक्षक धन सम्पत्ति से (अपिहितम्) ढपा
है। अर्थात् इस जगत् में सुवर्णादि ऐश्वर्य ही प्रायः वि-
ग का हेतु है और विषयभोग मुक्ति का बाधक है इस
ण परम्परा से सुवर्णादि ऐश्वर्य मोक्ष द्वार सम्बन्धी किवाड़ के
प है उस ऐश्वर्य्य के साथ वैराग्य करने से मोक्ष प्राप्त होता
॥ (यः) (असौ) जो वह व्यापक होने के कारण इन्द्रियों
, अदृष्ट (आदित्ये) स्वयं प्रकाश अथवा प्रलय समय सब जगत्
को अपने में लेने वाले अपने स्वरूप में स्थिर (पुरुषः) पूर्ण
परमात्मा है (सः, असौ) सो वह (अहम्) मैं होऊं अर्थात्
तदाकारवृत्ति वाला होने से उस से भिन्न बुद्धि वाला मैं न
रहूं किन्तु उस में लवलीन हो कर अपने को भी भूल जाऊं।
(ओ३म्) इस ओङ्कार का वाच्य (खम्) निराकार(ब्रह्म)
परमेश्वर है। उसी का सर्वदा और विशेष कर शरीर छोड़ते
समय ध्यान करे ॥ १७ ॥

अयं मन्त्रः शाङ्करभाष्ये सङ्ख्यया पञ्चदशोऽ-
स्ति। अन्येपि मन्त्रास्तत्र विपर्य्यस्ता दृश्यन्ते। अस्य

मन्त्रस्योत्तरार्द्धं च शाङ्करभाष्य इत्थमस्ति (पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये) अस्यायमर्थः पूषन् सर्वेभ्यो वृद्धतर तन्मुखं द्वारं त्वम् । भवद् सनादिः सत्यो धर्मो यस्य तस्मै सत्यधर्माय दृष्टये दर्शनाय ज्ञानाय—अपावृणु उद्घाटय । योऽस [illegible] ये० इत्याद्यस्योत्तरार्द्धं चान्यमन्त्रस्योत्तरार्द्धम् [illegible] तस्य [illegible] चेत्थमस्ति (पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्रा पत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते कल्याण रूपं तत्ते पश्यामि) हे (पूषन्) सर्वपोषक (ए एकर्षेचासावृषिश्च मुख्यर्षे ऋषीणामृषे (यम) न्य यकर्त्तः (सूर्य) प्रेरकान्तर्यामिन् (प्राजापत्य) प्रज पतेः प्रजापालकस्यायं राजा राज्ञां राजन् (रश्मीन् तापकानि स्वतेजांसि (व्यूह) अस्मत्तः पृथक् कुरु (तेजः) प्रकाशकं दर्शकं ज्ञानात्मकं ज्योतिः (समू-ह) सम्यक् प्रापय । यत् ते तव कल्याणतमं रूपं तत् ते पश्यामि पश्येयम् । लेट् प्रयोगः । एवमुत्त-रार्द्धपूर्वार्द्धभेदेनैको मन्त्रः शाङ्करभाष्येऽधिकोस्ति । यजुर्वेदस्य वाजसनेय्याः संहितायाश्चत्वारिंशत्तमो-ध्यायः सप्तदशमन्त्रात्मकः सर्वेषु वेदपुस्तकेषूपलभ्यते। एतयैव सङ्ख्यया सर्वमन्त्रसङ्ख्या (१९७५ या

(चरणव्यूहे श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीभिश्च प्रतिस्पादिता) पूर्णा भवतिाएकमन्त्राधिक्ये नियता सङ्ख्या अभिद्येत। अतो ज्ञायतेऽस्मिन्वाजसनेयोपनिषदि सप्तभशैव वेदमन्त्राः सन्तीति। अष्टदशसंख्यातु कथं कदा निव जाता इति निर्णेतुमशक्यम् । श्रीमच्छङ्करस्वामिमसमयात्पूर्वमेव संख्याधिक्यं कथञ्चिज्जातम् (भाष्यकरणादेव निश्चीयते ॥

होड
दु
ष्पन्य भी कई मन्त्र आगे पीछे लौट पौट हैं । और इस सत्र-
षयभी
कार मन्त्र का पिछला आधा भाग श्रीशङ्कर स्वामी जी के
तुल ऐसा है कि (तत्त्व०) इस का अर्थ–हे (पूषन्) सब
है रमात्मन् (त्वम्) आप (तत्) उस ऐश्वर्य से आच्छादित
के द्वार को (सत्यधर्माय) आप की उपासना
रे जिस का धर्म है ऐसे मेरे लिये (दृष्टये) ज्ञान होने [अ-
पावृणु) खोलिये आवरण न कीजिये। और (योऽसा०) इत्यादि सत्रहवें मन्त्र का जो उत्तरार्द्ध है वह शाङ्करभाष्य में सोलहवें मन्त्र का उत्तरार्द्ध है और वहां सोलहवें का पूर्वार्द्ध (पूषन्नेकर्षे०) इत्यादि है । इस का अर्थ–हे (एकर्षे) ऋषियों में मुख्य ऋषि (यम) न्यायकर्त्ता (सूर्य) सब के प्रेरक अन्तर्यामिन् (प्राजापत्य) प्रजापालक राजाओं के राजा (पूषन्) सब को पुष्ट करने हारे ईश्वर (रश्मीन्) दुःख देने वाले अपने तेजों को (व्यूह) हम से पृथक् कीजिये (तेजः) प्रकाशमय मार्ग दिखाने वाले ज्ञानरूप अपने तेज को (समूह) अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये । (यत्) जो (ते) आप का (कल्याणतमम्) अतिकल्याणकारी (रूपम्)

रूप है (तत्,ते) उस आप के स्वरूप को (पश्यामि) ज्ञानदृष्टि देखूं ॥ इस प्रकार उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध के भेद से शङ्कराचार्य्य जी के भाष्य में एक मन्त्र अधिक है । यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का चालीशवां अध्याय वेद के सब पुस्तकों में १७ सत्रह मन्त्र का मिलता है इसी संख्या से इस संहिता के सब मन्त्रों की संख्या (१९७५ जो चरणव्यूह में और श्री स्वामि दयानन्दसरस्वती लिखी है) पूरी हो जाती है यदि इस चाली- अठारह मन्त्र माने जावें तो संख्या बढ़ जावेगी त होता है कि इस अध्याय में सत्रह ही मन्त्र वेद के हैं अठारह मन्त्रसंख्या कब और कैसे हुई यह निश्चय करना दुस्तर है । परन्तु शङ्कराचार्य्य जी ने अठारह पर भाष्य है इस कारण उन के होने से पहिले ही किसी प्रकार न्त्र बढ़ने का अनुमान होता है ॥

शर्मकृतं वाजसनेयोपनिषद्भाष्यं पूर्णम् ॥

पुस्तकों का सूचीपत्र ॥

वाजसनेय (ईश) ≡) तलवकार (केन) ।) कठ १) प्रश्न ॥।) मुण्डक ॥।-) माण्डूक्य ।) ये छः उपनिषद् संस्कृत भाषावृत्ति सहित इकट्ठे लेने वालों को २॥) ही में दिये जांय गे। सजिल्द २॥।) डाकव्यय पु० ६ का ≡) सद्विचारनिर्णय (व्यंकटगिरि के उत्तर) =) ब्राह्ममतपरीक्षा (ब्राह्मसमाजियों के उत्तर) ≡) तीर्थविषय ≡) विवाहव्यवस्था।) द्वैताद्वैतसंवाद ≡) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ।) कुमारीभूषण -) शास्त्रार्थखुर्जा =) देवनागरी की वर्णमाला ।) सत्यसङ्गीत ।) आर्यसिद्धान्त १।२।३।४ भाग ४८ अङ्क जिल्द सहित ३) आर्यसिद्धान्त प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ भाग ४८ अङ्क विना जिल्द २॥) आर्यसमाजपरिचय ।) स्वधर्मरक्षा ।) वेदान्तप्रदीप ॥) छन्दरत्नावली ≡) सदुपदेश ॥ सच्चेदेशहितैषी के गुणों पर एक व्याख्यान =) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का द्वितीय पुस्तक =) सत्यासत्यविचार =) इन पुस्तकोंका डाक महसूल पृथक् ग्राहक को देना होगा जो एक२ मँगावें गे उन को आर्यसिद्धान्त तथा उपनिषद् छोड़ के प्रत्येक पर ।)॥ डाकव्यय देना होगा ॥

ब्रह्मचर्य्यदर्पण -) नारीसुदशाप्रवर्त्तक भाग चारो १।) गोरक्षार्थदीपिका =) आर्य्यतत्त्वदर्पण =)

ये सब पुस्तक बाहर के हैं इन पर कमीशन नहीं मिलेगा ॥

विशेष नियम—

जो महाशय मासिक पुस्तक प्रक्रिया से भिन्न स्वतन्त्र विकने वाले उपनिषद् आदि पुस्तकों को ६–१० रुपये तक के लेंगे उन को षष्ठांश कमीशन मिले गा। १०–२५ तक पंचमांश, २५–५० तक पर चतुर्थांश और ५०–१०० के भीतर तृतीयांश तथा पूरे १०० से आगे पुस्तक रोक दाम पर लेने से आधे मूल्य पर दिये

जावें गे । इन सब कमीशन की दशाओं में दाम रोक (नगद) लिया जायगा । और सब डाकव्यय ग्राहक को देना होगा । जिन की इच्छा हो मँगावें पर इस दशा में उपनिषदों का पूर मूल्य लगाया जायगा अर्थात् छः के समुदाय पर चतुर्थांश कम २॥) न होगा ॥

2328

विज्ञापन

सब महाशयों को ज्ञात हो कि देवनागरी का अभ्यास करने वाले छोटे २ बालक जब तक अक्षर पहचानते हैं तब तक दो २ वा चार २ पैसे की कई पुस्तक फाड़ डालते हैं और उन पुस्तकों में अनेक शिक्षासम्बन्धी ऐसी बातें लिखी रहती हैं जो वर्षों के पीछे बालक समझ सकते हैं अर्थात् उन पांच छः आदि वर्ष के बालकों के लिये ऐसा छोटा सा थोड़े मूल्य का पुस्तक हो कि जिस में सब से पहिले उन को कण्ठस्थ कराने योग्य चुनी २ बातें हों जब उस पुस्तक को पढ़ चुकें तब द्वितीय पुस्तक पढ़ाया जावे । ऐसा पुस्तक मेरे विचार में अब तक कोई न था इसी कारण विशेष उपयोगी बातें लिख कर मैं ने देवनागरी की वर्णमाला पुस्तक १६ पेजा रायल के १२ पेजका बना कर छपाया है । और सर्वसाधारण की सुगमता के लिये ।) एक पैसा मूल्य रक्खा है जो पाठशाला के अध्यापक आदि इकट्ठे मगावेंगे उन को १०० पुस्तक १) रुपये में मिलें गे परन्तु डाकव्यय ग्राहक को देना होगा इसी कारण कई पुस्तक इकट्ठे मंगाने चाहिये एक मंगाने से तीन पैसे में पड़ेगा । मेरी समझ में छोटे २ बच्चों को पहिले जैसी २ शिक्षा होनी चाहिये वैसी संक्षिप्त विशेष उपयोगी शिक्षा की ऐसी पुस्तक अब तक अन्य नहीं है । इसी कारण एक महीने में पहिली छपी १००० पुस्तक इस की बिक गयीं अब द्वितीय वार २००० छपाई हैं ये भी शीघ्र बिक जायगी जिन को मंगाना हो मुझ से मंगावें ।

भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त

सरस्वती प्रेस—प्रयाग